जैन दर्शनानुसार आरों का संक्षिप्त वर्णनः सृष्टि विकास की कहानी

जैन मान्यताओं के संदर्भ में डा. प्रेमसुमन जैन का कथन ध्यान देने योग्य है। वह कहते हैं :

जैन मान्यता के अनुसार सृष्टि शाश्वत है। सुख से दुःख की ओर तथा दुःख से सुख की ओर विश्व का क्रमशः अवसर्पण व उत्सर्पण होता रहता है। अवसर्पण की आदि सभ्यता अत्यन्त सरल और सहज थी। उस समय किसी तरह की कौटुम्बिक व्यवस्था न होने के कारण कोई उत्तरदायित्व नहीं था, अतः कोई व्यवस्था नहीं थी। जैन परम्परा में ऐसी मान्यता है कि उस समय जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाती थी। प्रकृति और मानवीय तत्त्वों का यह ऐसा सम्मिश्रण का युग था जहां धर्म-साधना पाप-पुण्य, ऊंच-नीच आदि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों का अस्तित्व नहीं था। जैन पुराणकारों ने ऐसी परिस्थिति के युग को भोग-भूमि व्यवस्था का युग कहा है।

किन्तु अवसर्पिणी काल-चक्र का दूसरा और तीसरा विभाग क्रमशः व्यतीत हुआ तो काल-प्रभाव से सभी बातें ह्रासोन्मुख होने लगीं। कल्पवृक्षों को लेकर छीनाझपटी होने लगी। इसलिए इस असुरक्षा की स्थिति ने सुरक्षा और सहयोग का आह्वान किया। इससे सामूहिक व्यवस्था प्रतिफलित हुई, जिसे जैन साहित्य में 'कुल' नाम दिया गया और जिसने इस व्यवस्था का श्रीगणेश किया उसे 'कुलकर' कहा गया। जैन परम्परा में इस तरह के 14 कुलकरों की मान्यता है। प्रत्येक कुलकर ने व्यवस्था को गति प्रदान की। अन्तिम कुलकर नाभि थे। इनके समय तक विभाजन की व्यवस्था के साथ-साथ दण्ड-व्यवस्था का भी प्रारम्भ हो चुका था। समाज में केवल स्त्री-पुरुष युगल ही क्रमशः उत्पन्न होते थे।

इस प्रकार अन्तिम कुलकर नाभि को वैदिक परम्परा ने 'मनु' के रूप में स्वीकार किया है। उन्हीं के सुपुत्र प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए। जैन परम्परा के अनुसार आरों का विभाजन इस प्रकार किया गया है। इस संदर्भ में मुनि श्री नथमल (महाप्रज्ञ) जी अपने **'जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व'** नामक ग्रंथ में लिखते हैं-

''इस काल-विभाग को हम क्रम-ह्रासवाद या क्रम-विकासवाद का नाम दे सकते हैं। हर काल में उन्नति-अवनति का दौर चलता रहता है। अवसर्पिणी काल में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पदार्थ की क्रमशः अवनति होती है।''

उत्सर्पिणी में उक्त पदार्थों की उन्नति होती है पर वह अवनति और उन्नति समूहापेक्षा से है, व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारम्भ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है। क्रमशः यह काल-चक्र चलता रहता है।

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के ६-६ भाग होते हैं -(१) एकान्त सुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमा-दुषमा, (४) दुषमा-सुषमा, (५) दुषमा, (६) दुषमा-दुषमा।

यह ६ अवसर्पिणी के विभाग है। उत्सर्पिणी के भी ६ विभाग इस अनुक्रम से होते हैं- (१) दुषमा-दुषमा,(२) दुषमा,(३) दुषमा-सुषमा,(४) सुषमा-दुषमा,(५) सुषमा,(६) एकान्त सुषमा।

अवसर्पिणी काल : आज हम अवसर्पिणी काल के पांचवें दुषमा आरे में जी रहे हैं। अवसर्पिणी काल का जीवन-क्रम एकान्त सुषमा से शुरू होता है। उस समय भूमि स्निग्ध (चिकनी) थी। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श मनोज्ञ था। मिट्टी की मिठास आज की चीनी से अनन्त गुणा थी। कर्मभूमि थी, पर कर्मयुग शुरू नहीं हुआ था। पदार्थ अतिस्निग्ध थे। इसलिए उस जमाने के लोग तीन दिन में थोड़ी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते थे, विकार कम थे। लोगों की आयु लम्बी थी। वे लोग ३ पल्योपम तक जीते थे। ३ कोस का उच्च शरीर था। शान्त व सन्तुष्ट होते थे। ऐसा समय ४ करोड़ सागर का बीता।

तीन क्रोड़ाक्रोड़ी का दूसरा सुखमय भाग शुरू हुआ। इसमें भोजन दो दिन के बाद होने लगा। आयु २ पल्य, और उंचाई २ कोस रह गई। पदार्थों में स्निग्धता घटती गई।

तीसरे सुख-दुःखमय काल-विभाग में और कमी आई। भोजन एक दिन बाद होने लगा। जीवन का कालमान १ पल्य और ऊंचाई १ कोस रह गई। इस युग की काल मर्यादा थी एक क्रोड़ाक्रोड़ सागर। इसके अन्तिम चरण में पदार्थों की स्निग्धता में भी कमी होती गई, तब कृत्रिम व्यवस्था आई और इसी दौरान कुलकर व्यवस्था का जन्म हुआ।

यह कर्म-युग के शैशवकाल की कहानी है। समाज संगठन अभी हुआ नहीं था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। एक जोड़ा ही सब कुछ था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। समाज और राज्य की बात तो बहुत दूर थी। जनसंख्या कम थी। माता-पिता की मृत्यु से दो या तीन मास पहले एक युगल जन्म लेता और बड़ा होकर दम्पति का रूप ले लेता। विवाह संस्था का उदय नहीं हुआ था। जीवन की आवश्यकताएं सीमित थी। न खेती होती थी, न कपड़ा बनता था और न मकान बनते थे। उनके भोजन व निवास के साधन कल्पवृक्ष थे। कला-विज्ञान का कोई नाम नहीं जानता था। कोई राजा नहीं था, कोई प्रजा नहीं थी। कोई भी सांसारिक सम्बन्ध नहीं था।

उस समय धर्म-कर्म नहीं था। लोग सहज धार्मिक थे। सभी चुगली, निन्दा, आरोप से दूर थे। लड़ना-झगड़ना वे जानते तक नहीं थे। शस्त्र व शास्त्र से अनभिज्ञ थे। हर प्रकार की बुराई से ये लोग मुक्त थे।

तीसरा आरा बीता। चौथे आरे में सभी वर्ण, गन्ध, स्पर्श, आयु घटने लगे। कल्पवृक्ष क्षीण होने लगे। यौगलिक व्यवस्था टूटने लगी, समस्याएं बढ़ने लगी। साधन कम होने लगे। लोग समस्याओं के कारण झगड़ने लगे। अपराध और अव्यवस्था के कारण कुलकर आए। जिन्होंने दण्ड नीति को जन्म दिया। केवल तीन दण्ड नीतियां थीं- हाकार, माकार, फिर धिक्कार।

इस प्रकार जैनधर्म में सृष्टि को विकासवादी सिद्धान्त से समझाया गया है। यह क्रम भरत क्षेत्र में इसी प्रकार चलता रहता है। इसी व्यवस्था ने कुल को जन्म दिया। उत्सर्पिणी काल का आरम्भ सुषमा से होता है, अन्त दुषमा-दुषमा से होता है।

●●

जैनधर्म की तीर्थंकर परम्पराः एक विश्लेषण

जैनधर्म के महामंत्र नवकार के पांच पदों में पहला पद 'णमो अरिहंताणं' है। अरिहंत में सामान्य केवली व तीर्थंकर केवली दोनों आ जाते हैं। तीर्थंकर अरिहंतों के जीवन में कुछ विशेषताएं होती हैं, जो सामान्य केवलियों से उन्हें पृथक करती हैं। आत्म-ज्ञान या केवलज्ञान की दृष्टि से दोनों एक समान होते हैं, पर तीर्थंकर की परम्परा शाश्वत है। तीर्थंकर का यह काल-विभाजन मात्र जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में रहता है। महाविदेह क्षेत्रों में २० विहरमान तीर्थंकर परमात्मा हमेशा विद्यमान रहते हैं और रहेंगे। वहां सामान्य व्यक्ति नहीं पहुंच सकता, पर विशिष्ट ज्ञानी अपने तप के प्रभाव से आज भी तीर्थंकरों के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। हमारे इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अनन्तकाल से इसी प्रकार तीर्थंकर जन्म लेते रहे हैं, धर्म-प्रचार करते रहे हैं, निर्वाण प्राप्त करते रहे हैं और भविष्य में करते रहेंगे।

तीर्थंकर नामकर्म के उदय से किसी जीव को तीर्थंकर गोत्र की प्राप्ति होती है। जो श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका रूपी धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। धर्मरूपी तीर्थ के संस्थापक तीर्थंकर होते हैं। जैनधर्म का कोई संस्थापक नहीं है। यह आर्हतों का धर्म है, जिनधर्म है, श्रमण धर्म है, निर्ग्रन्थ धर्म है। "जैन" शब्द का अर्थ है जीतने वाला। आत्मा के कषाय, दोषों को जीतने वाला जैन है। जैन धर्म अनादि धर्म है क्योंकि तीर्थंकर हर काल में किसी न किसी क्षेत्र में विद्यमान रहते हैं। तीर्थंकर परम्परा का अनुक्रम हमारे भरतक्षेत्र में ही होता है।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में २४ तीर्थंकर जन्म लेते हैं। तीर्थंकर का जन्म क्षत्रियकुल में होता है। वे कभी दरिद्र ब्राह्मण या याचक कुल में जन्म नहीं लेते। जन्म के समय ही वे तीन ज्ञान के धारक होते हैं- मति, श्रुत व अवधि। तीर्थंकर के जन्म से पहले उनकी माता १४ स्वप्न देखती हैं :

(१) हाथी, (२) वृषभ, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी, (५) माला, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) ध्वजा, (९) कलश, (१०) पद्म सरोवर, (११) समुद्र, (१२) रत्नराशि, (१३) विमान, (१४) निर्धूम अग्नि।

तीर्थंकर अरिहंत के पांच कल्याणक देवों व मनुष्यों द्वारा मनाए जाते हैं। (१) च्यवन-कल्याणक, (२) जन्म-कल्याणक, (३) दीक्षा-कल्याणक, (४) केवलज्ञान-कल्याणक, (५) निर्वाण-कल्याणक। तीर्थंकर निश्चय से बिना गुरु के दीक्षा ग्रहण करते हैं फिर अपनी शक्ति से केवलज्ञान प्राप्त कर पूर्व तीर्थंकरों की परम्परा को जागृत करते हैं। केवलज्ञान के बल से प्रश्नों के उत्तर सूक्ष्म रूप में देने में वे समर्थ होते हैं। वे चार घातिया कर्मों का पूर्ण नाश करते हैं। यह कर्म है- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय।

दीक्षा से पहले तीर्थंकर वर्षी दान देते हैं। तीर्थंकर का जीव धरती पर तीर्थंकर अरिहंत कहलाता है। निर्वाण के बाद निराकार परमात्मा के रूप में सिद्ध गति प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर का जीव अवश्यमेव मुक्ति को जाता है। तीर्थंकर के ८ प्रतिहार्य उनके साथ चलते हैं। इसके अतिरिक्त ३४ अतिशयों के वे स्वामी होते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है-

अष्ट-प्रतिहार्य- अष्ट प्रतिहार्य जो केवलज्ञान के बाद उत्पन्न होते हैं वे हैं - (१) अशोक वृक्ष, (२) देव-दुन्दुभि, (३) पुष्प वृष्टि, (४) धर्म- चक्र, (५) तीन छत्र, (६) स्वर्णमय रत्न जड़ित सिंहासन, (७) आभामण्डल, (८) चामरधारी इन्द्र।

ये अष्ट प्रतिहार्य तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होते ही घटित होते हैं और निर्वाण अवस्था तक साथ रहते हैं। इन अष्ट प्रतिहार्यों के प्रभाव से तीर्थंकर की धर्मसभा के आसपास सुख-शांति व्याप्त रहती है।

केवलज्ञान होने के पश्चात् उनकी धर्मसभा की अनुपम रचना देवता मिलकर करते हैं, जिसे जैन परिभाषा में समवसरण कहते हैं।

तीर्थंकरों को निर्वाण होने पर उनका अग्नि-संस्कार भी सभी देव मिलकर करते हैं। तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं। वे प्रश्न करने वाले के हर प्रश्न का उत्तर बिना पूछे देते हैं। वे जन-कल्याण के लिए धर्मोपदेश करते हैं। वे स्वयं तरते हैं तथा औरों को तारने में सक्षम होते हैं। वे स्वयंबुद्ध, पुरूषोत्तम, शिव, अरिहंत, केवली, जिन कहलाते हैं। तीर्थंकरों की संख्या तो निश्चित है पर सामान्य केवली, जिन्हें हम गुणों की दृष्टि से अरिहंत श्रेणी में रखते हैं, उनकी संख्या निश्चित नहीं है। जितनी आत्माएं सृष्टि में हैं, सबमें परमात्मा बनने की शक्ति है पर तीर्थंकर नामकर्म उदय से यह शक्ति तीर्थंकर को प्राप्त होती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं सारे अरिहंत तीर्थंकर नहीं होते, पर सारे तीर्थंकर अरिहंत होते हैं।

तीर्थंकर गोत्र के बीस स्थानक

तीर्थंकर नामकर्म गोत्र जिन कारणों से उपार्जन होता है उन्हें २० स्थानक कहते हैं। इन्हीं की आराधना किसी पूर्व जन्म में तीर्थंकर का जीव, लम्बे समय तक करके तीर्थंकर नामकर्म गोत्र बांधता है। इन बोलों का विवेचन इस प्रकार है-

(१) अरिहंत भक्ति, (२) सिद्ध भक्ति, (३) गुरू भक्ति, (४) प्रवचन भक्ति, (५) श्रुतज्ञान में स्थविर की भक्ति, (६) सूत्र बहुश्रुत, अर्थ बहुश्रुत और सूत्र व अर्थ दोनों के जानकारों की भक्ति, (७) बाह्य व आभ्यन्तर तप के धारक मुनियों की सेवा भक्ति, (८) निरन्तर ज्ञानोपयोग के रसिक बनने से, (९) शुद्ध सम्यक्त्व धारण करने से, (१०) ज्ञान आदि प्राप्त कर मन, वचन, काया से विनय करने से, (११) शुद्ध भाव से प्रतिक्रमण करने से, (१२) मूलगुण और उत्तरगुणों का पालन करने से, (१३) शुभ ध्यान, (१४) बाह्य व आभ्यन्तर तप करने से, (१५) साधु-महात्मा को सुपात्रदान देने दे, (१६) आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, रोगी, नवदीक्षित, सहधर्मी, कुल, गण और संघ की सेवा भक्ति से, (१७) गुरूजनों की भक्ति से, (१८) नया ज्ञान पढ़ने, चिन्तन करने के अभ्यास से, (१९) श्रुतज्ञान की भक्ति से, (२०) प्रवचन प्रभावना से।

चौंतीस अतिशय

इन्हीं पूर्वजन्मों के शुभ कर्मों से तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर में प्रमुख चौंतीस अतिशय होते हैं। इनमें से कुछ जन्म के समय से ही होते हैं। कुछ केवलज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। कुछ स्वाभाविक या देवकृत होते हैं।

जन्मजात अतिशय

(१) तीर्थंकर भगवान के शरीर के बाल न बढ़ते हैं, न घटते हैं बल्कि व्यवस्थित रहते हैं।

(२) तीर्थंकर भगवान के शरीर पर कभी मैल नहीं जमता।

(३) तीर्थंकर भगवान का आहार व नीहार गुप्त होता है।

(४) तीर्थंकर भगवान का रक्त सफेद रंग का होता है।

पन्द्रह अतिशय केवलज्ञान के पश्चात्

(१) तीर्थंकर अरिहंत के श्वासोच्छ्वास में कमल-जैसी सुगन्ध आती है।

(२) तीर्थंकर अरिहंत जब विहार करते हैं तो आकाश में धर्म-चक्र चलता है, जहां वे ठहरते हैं धर्म-चक्र भी ठहर जाता है। पुनः विहार के पश्चात् धर्म-चक्र स्वयं चलने लगता है।

(३) तीर्थंकर अरिहंत के शीर्ष पर तीन छत्र हमेशा होते हैं जिनकी झालरें मोती की बनी होती हैं।

(४) तीर्थंकर अरिहंत के दोनों ओर इन्द्रों द्वारा रत्नजड़ित डण्डियों वाले चांवर ढुलाए जाते हैं।

(५) तीर्थंकर अरिहंत स्फटिक मण्डित, रत्नजड़ित, निर्मल, देदीप्यमान सिंहासन पर विराजे दृष्टिगोचर होते हैं।

(६) तीर्थंकर अरिहंत के आगे झण्डियों से घिरी इन्द्रध्वजा दिखाई देती है जो रत्नजड़ित होती है।

(७) तीर्थंकर अरिहंत अपने शरीर से बारह गुणा ऊंचे अशोक वृक्ष के नीचे विराजते है।

(८) सूर्य से भी अधिक तेजस्वी आभामण्डल तीर्थंकर के पीछे दृष्टिगोचर होता है।

(९) तीर्थंकर अरिहंत जहां-जहां चलते हैं, चरण-कमल रखते हैं वहां खड्डे, टोए, टीले सभी सम हो जाते हैं।

(१०) तीर्थंकर अरिहंत जब चलते हैं तो धरती पर फैले कांटें स्वयमेव उल्टे हो जाते हैं।

(११) तीर्थंकर अरिहंत जहां होते हैं वहां ऋतुएं स्वयमेव सुहावनी, अनुकूल हो जाती है।

(१२) तीर्थंकर अरिहंत के आगे चारों ओर एक योजन तक मन्द-मन्द शीतल वायु चलती है और अशुचि को दूर करती है।

(१३) तीर्थंकर के चारों और बारीक-बारीक सुगंधित जल की बूंदा बांदी व पुष्प वृष्टि होती है।

(१४) यह देवकृत पुष्प वृष्टि प्रभु के घुटनों तक होती है। पुष्पों के डण्डलों का कोमल मुख ऊपर आ जाता है।

(१५) जहां तीर्थंकर विचरते हैं मनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श का सद्भाव पाया जाता है।

(१६) जहां तीर्थंकर विचरते हैं अमनोज्ञ वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श नहीं रहता।

(१७) तीर्थंकर भगवान के चारों ओर एक-एक योजन तक बैठी परिषद् संलग्न होकर प्रभु की अमृतवाणी उपदेशामृत का पान करती है।

(१८) तीर्थंकर प्रभु अर्ध-मागधी प्राकृत में उपदेश देते हैं।

(१९) तीर्थंकर अरिहंत की वाणी आर्य-अनार्य मनुष्य, पशु-पक्षी, सभी प्राणी इस उपदेश को अपनी-अपनी भाषा के अनुसार समझते हैं।

(२०) तीर्थंकर के समवसरण में सभी जीव-जन्तु अपना परस्पर वैर विरोध भूल जाते हैं। उनके दर्शन मात्र से स्वाभाविक वैर या पूर्वभव का वैर समाप्त हो जाता है। शेर व बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं।

(२१) दूसरे धर्मों को मानने वाले तीर्थंकरों के दरबार में हठ व पूर्वाग्रह छोड़ प्रभु-भक्त बन जाते हैं।

(२२) उनके दरबार में कोई किसी तरह की चर्चा नहीं करता क्योंकि उन्हें हर प्रश्न का उत्तर बिना पूछे प्रभु द्वारा प्राप्त होता है।

(२३) तीर्थंकर परमात्मा जहां होते हैं वहां २५-२५ योजन तक चारों ओर ईति, भीति आदि उपद्रव नहीं होते।

(२४) तीर्थंकर अरिहंत जहां विराजते हैं वहां महामारी का फैलाव नहीं होता।

(२५) तीर्थंकर पर पर-चक्र का आक्रमण नहीं होता।